

भारतीय स्त्री के अधिकार और वस्तुस्थिति : ऐतिहासिक संदर्भों से वर्तमान तक



डॉ. भावना पारीक

सह आचार्य, इतिहास विभाग

बाबा नारायण दास राजकीय कला महाविद्यालय, चिमनपुरा, जयपुर (राजस्थान)

शोध सारांश

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। ऋग्वैदिक काल में स्त्री की स्थिति पुरुष के सदृश्य ही थी। दोनों समान अधिकारों का उपभोग करते थे। शिक्षा, राजनीति, समाज, विवाह, सम्पत्ति सभी में स्त्री पुरुष के मध्य समभाव था। किंतु समाज का नारी के प्रति यह उदार और सम्मानजनक दृष्टिकोण अधिक समय तक नहीं रह सका और स्त्री के पराधीनता सूचक विधि विधानों की नींव पड़नी आरम्भ हुई। यद्यपि यदा कदा कुछ विचारकों व सुधारकों ने स्त्री पक्ष में विचार दिये किन्तु स्त्री की स्थिति में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ। स्वतन्त्रता के आन्दोलन में प्रथमतया प्रभूत मात्रा में भारतीय स्त्रियाँ घर से बाहर निकलीं और धीरे-धीरे सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक प्रवृत्तियों में सक्रिय भागीदारी करने लगीं। आलेख के अन्तर्गत भारतीय स्त्री की परिस्थितियों को प्रभावित करने वाले कारकों, उनके लिये बनी नीतियों व अधिकारों के विषय में विस्तृत चर्चा की गई है तथा उसकी आदर्श व यथार्थ स्थिति में कोई अन्तर न हो इस हेतु सुझाव भी प्रस्तुत किये गये हैं।

संकेताक्षर— भारतीय स्त्री, स्वतन्त्रता, परिवर्तन, सक्रिय भागीदारी

प्रस्तावना

प्रत्येक समाज में सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थिति के अनुरूप ही नारी का स्थान निश्चित होता है। प्रत्येक सामाजिक रचना स्त्री वर्ग से कुछ निर्धारित कर्तव्यों और दायित्वों की आकांक्षा रखती है। समाज की स्थिरता और विकास के लिये स्त्रियों के योगदान की सीमा भी सामाजिक मूल्यों के आधार पर निश्चित की जाती है।

भारतीय सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। यहां की संस्कृति “यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता” सिद्धान्त की अनुगामी है। वैदिक काल में स्त्री की स्थिति पुरुष के सदृश्य ही थी। वेदों की नारी पूज्य है, स्तुति योग्य है, सुशील, बहुश्रुत व यशोमयी है। उन्हें विवाह, शिक्षा, सम्पत्ति इत्यादि में समान अधिकार प्राप्त हैं। परिवार और समुदाय में स्त्री द्वारा कन्या, पत्नी, बधू और माता के रूप में किये जाने

वाले योगदान का सर्वदा महत्व और गौरव रहा है। गृह की साम्राज्ञी के रूप में उसे प्रतिष्ठापित किया गया तथा घर के अन्य सदस्यों को उनके शासन में रहने के लिये निर्देशित किया गया।¹ वैदिक युग में विद्याभ्यास आरम्भ करने के निमित्त अनिवार्य माना जाने वाला उपनयन संस्कार कन्याओं का भी किया जाता था तथा वे भी ब्रह्मवादिनी बनती थी। ऋग्वेद के दशम मण्डल का 39-40 सूक्त ब्रह्मवादिनी घोषा, 1.27.7 रोमशा, 1.5.29 विश्ववारा, 1.10.45 इन्द्राणी, 1.10.159 अपाला ऋषिका द्वारा रचित हैं। वृहदारण्यक उपनिषद् में गार्गी के ज्ञान का लोहा ऋषि याज्ञवल्क्य भी मानते हैं। स्वयं उनकी पत्नी मैत्रेयी, ऋषिका लोपामुद्रा व सूर्या आदि भी विदुषी स्त्रियाँ हैं। विवाह की न्यूनतम आयु 15-16 वर्ष थी। सावित्री द्वारा स्वयं अपने वर सत्यवान का चयन किया गया था।² जिस समाज में स्त्री शिक्षा प्रचलित हो, बड़ी आयु में विवाह रचाएँ जाते हों, सभी क्षेत्रों व दिशाओं में उन्नति एवं प्रगति करने की स्वतन्त्रता हो,

ऐसे समाज में गृहस्थ जीवन में नारी का महत्वपूर्ण स्थान होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। शनैः-शनैः यह महत्व इतना बढ़ा कि उसके बिना एकाकी पुरुष अपूर्ण और अधूरा समझा गया।³ इस समाज में विधवा को नियोग प्रथा द्वारा पुत्र उत्पन्न करने तथा पुनर्विवाह करने का अवसर भी था। अथर्ववेद में पुनर्विवाह करने वाली स्त्रियों का 'पुनर्भू' के रूप में परिचय दिया गया है। वैदिक युग में स्त्रियों का सार्वजनिक अवसरों पर स्त्रियों की उपस्थिति एक सामान्य बात थी। कहा गया- "सभा और समिति में जा कर स्त्रियाँ भाग लें और अपने विचार प्रकट करें" (अथर्ववेद 7.38.5, 12.3.92)

रथ पर आरूढ़ हो सभा को जाती हुई स्त्रियों का उल्लेख प्राप्त होता है। पुत्रों की भांति पुत्री भी अपने पिता की सम्पत्ति में समान रूप से उत्तराधिकारी मानी गयी।⁴ यास्क के निरुक्त में उल्लेख है कि पुत्र न होने पर पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुत्री को ही माना जाएगा। स्त्रियों को युद्ध में भाग लेने को प्रेरित किया गया।⁵ कहा गया कि शासकों की स्त्रियाँ अन्यो को राजनीति की शिक्षा दें।⁶ पुरुष के बहुविवाह की निंदा⁷ की गई। किंतु भारतीय समाज में नारी के प्रति यह उदार और सम्मानजनक दृष्टिकोण अधिक समय तक नहीं रह सका। सामाजिक विचार धारा और कानून की दृष्टि से समाज में स्त्रियों के लिये पराधीनता सूचक विधि विधानों की नींव पड़ने लगी। नारी के प्रति समाज का व्यवहार दिनोंदिन कठोर होता गया। उत्तरवैदिक काल में पुरुष का उसके प्रति अविश्वास व अनुत्तरदायित्व की भावना विकसित होती गई। "पुत्रीति जाता महतीह चिन्ता"⁸ जैसी उक्तियां ग्रंथों में मिलने लगती हैं जो पुत्री जन्म को चिन्ता का कारण बताती हैं। कन्या का उपनयन संस्कार बन्द कर दिया गया एवं उस विधि का समावेश विवाह विधि में ही कर लिया गया।⁹

'वैवाहिकों विधिः स्त्रीणां संस्कारों वैदिकः स्मृतः।

पति सेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्नि परिक्रिया।। (मनु. 2.67)
उपनयन संस्कार का हेतु अब विवाह विधि द्वारा सिद्ध हो जाता है; पतिसेवा गुरु सेवा के समान है और गृहस्थी का कार्य यज्ञ के समान है, अतः स्त्रियों को न तो किसी अन्य धार्मिक कार्य की आवश्यकता है और न अध्ययन की। विवाह को अनिवार्य (अपतिना तू नारीणा, मद्य प्रभूति पातकम्) घोषित करने के बाद धीरे-धीरे विवाह की न्यूनतम सीमा कम करने के प्रयास

किये जाने लगे। विधवा पुनर्विवाह के प्रति समाज का रूख कठोर होता गया। कुछ शास्त्रकारों ने संसार की समस्त हीनताएँ और दुर्गुण नारी में आरोपित किये। कहा गया—“यदि कोई व्यक्ति स्त्री के दोषों को ही अपने सौ वर्ष के जीवन भर, सौ जिह्वाओं से गिनाता रहे तो भी वह उसके दोषों का बखान पूरा किये बिना ही मर जायेगा।¹⁰ स्मृति युग में स्त्री माता के रूप में तो सम्मानित थी किंतु पत्नी के रूप में नहीं।

वैदिक धर्म की धनीभूत होती रूढ़िवादिता को बौद्ध धर्मावलंबियों ने सर्वप्रथम चुनौती दी। इस काल की सामाजिक परिस्थिति के अध्ययन से मालूम होता है कि कन्या का जन्म परिवार के लिये दुःखद घटना नहीं मानी जाती थी। बौद्ध धर्म ने कर्मकाण्ड को कोई महत्व नहीं दिया अतः पिण्डदान निरर्थक माना गया— परिणामतः धार्मिक कृत्यों के लिये पुत्र की अनिवार्यता का प्रश्न ही नहीं उठता था। कन्या शिक्षा पर बल दिया जाता था। सक्का, खेमा और धम्मादिनी नामक भिक्खुणियों के धार्मिक प्रवचन स्त्रियों की स्थिति के द्योतक है। इस समय विवाह की आयु 16 से 20 वर्ष थी। बुद्ध द्वारा कहा गया—‘पति को अपनी पत्नी का आदर करना चाहिए।’ किन्तु स्त्रियों की स्थिति इस युग में भी विशेष अच्छी नहीं थी। तत्कालीन समाज स्त्रियों के प्रति ग्रंथियुक्त था। स्वयं बुद्ध ने अपने प्रारम्भिक काल में स्त्रियों को संघ प्रवेश की अनुमति नहीं दी थी। प्रिय शिष्य आनन्द के आग्रह पर उन्होंने स्त्रियों के संघ प्रवेश की आज्ञा तो दी पर कह दिया कि स्त्रियों के प्रवेश से धर्म चिरस्थायी न रह पायेगा।¹¹ जिस प्रकार पाला पड़ने से सारी फसल नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार स्त्रियों के प्रवेश से धर्म भी विनिष्ट हो जाता है। सम्भवतः स्त्रियों के अस्थिर विचार, नियम और व्यवस्थाओं का पूर्णतः न पालन कर सकने की क्षमता तथा चंचल मन ही इस अविश्वास के प्रमुख कारण थे।¹²

बौद्ध और जैन धर्म के अन्तर्गत प्रदत्त धार्मिक स्वतन्त्रता तथा ब्राह्मण वर्ग के महत्व पर किये गये कठोर आघात को निरस्त करने की दृष्टि से तथा ब्राह्मण धर्म की पुनर्स्थापना हेतु पुराणों की रचना हुई जिन्होंने स्त्री की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाना आरम्भ किया। इसी समय विदेशी आक्रमणों विशेषतः मुस्लिम आक्रमणों का भय हिन्दू धर्माचार्यों को सताने लगा और उन्होंने हिन्दू समाज व्यवस्था को अधिक कठोर एवं जड़ बनाने का प्रयास किया। स्त्री शिक्षा मात्र गृहकार्य के उपयुक्त शिक्षा तक सीमित रह गई। कन्या के रजस्वला होने से पूर्व ही विवाह कर

देने की प्रथा प्रचलित हो गई। ब्रह्म पुराण में तो चार वर्ष की आयु विवाह के लिये उपयुक्त मानी गई है। छठी और सातवीं शताब्दी तक ब्राह्मण कन्याओं का विवाह आठ से दस वर्ष की आयु में सम्पन्न कर दिया जाता था और यह स्थिति आधुनिक काल तक चलती रही।¹³ इतनी अल्प आयु में विवाह होने से न तो कन्या को शिक्षा का अवसर मिलता होगा और न ही जीवन साथी के चुनाव के सम्बन्ध में मत रखने का। इस काल में पति को ही परमेश्वर माना गया। कहा गया कि, जो सुख शांति ईश्वर की आराधना से प्राप्त हो सकती है, वही उपलब्धि पति की पूजा से प्राप्त होती है।¹⁴

पूर्व काल में अनेक पत्नीत्व की प्रथा स्वीकृत थी पर किसी विधि मान्य कारण के बिना पुरुष द्वारा दूसरा विवाह करना अनुचित था। महाभारत में कहा गया है 'एवं हि त्यजेत् भार्या नराणां नास्ति निस्कृतिः', किंतु मध्ययुग में औचित्य हो न हो, विवाह करके दूसरी पत्नी लाने का प्रचलन बढ़ा तथा स्त्रियों के गृहस्थ जीवन की यातनाओं में वृद्धि हुई। वैधव्य जीवन में भी यातनाएँ बढ़ने लगीं। पति की मृत्यु के बाद पत्नी का जीवन निरर्थक मानने वाले हिन्दू समाज तथा उसके विचारकों ने अपनी मान्यताओं को रिवाजों और परम्पराओं में परिवर्तित कर दिया। अंगीरस और हरित आदि आचार्यों ने भी सती प्रथा का अनुमोदन किया। प्रारम्भ में वैधव्य जीवन के एकाकीपन व व्याथाओं से बचने हेतु स्त्री स्वयं ही अग्नि का चयन कर लेती होगी किंतु शनैः-शनैः क्षत्रिय वर्ण में सती प्रथा व्यापक रूप में प्रचलित हो गई। राजपूत स्त्रियों द्वारा किये जाने वाले जौहर के अनेकानेक प्रमाण मिलते हैं। ईसा से एक हजार वर्ष बाद ब्राह्मण स्त्रियाँ भी इस प्रथा के प्रभाव में आने लगीं। 17वीं-18वीं शताब्दी में सती प्रथा के कई उल्लेख हमें प्राप्त होते हैं। पुनर्विवाह की समर्थक दृष्टि विलुप्त प्राय हो गई। स्त्रियों के धार्मिक अधिकार व्रत उपवास तक सीमित रह गये। हिन्दू उत्तराधिकार नियम की मिताक्षरा व दायभाग दोनों शाखाओं में स्त्रीधन को व्याख्यायित किया गया। सामान्यतः आभूषण व वस्त्रों के सम्बन्ध में ही कन्याएँ सम्पत्ति की स्वामी थीं। मिताक्षरा शाखा के अनुसार पत्नी का व्यक्तिगत सम्पत्ति में अधिकार स्वीकार किया गया है, संयुक्त सम्पत्ति में नहीं। इस समय स्त्री के उत्तराधिकार के नियम अधिक स्पष्ट व निश्चित किये गये किंतु अन्य क्षेत्रों में स्त्री इतनी पराधीन थी कि शायद ही इन अधिकारों का वास्तविक उपभोग कर सकती होगी। भक्ति

आन्दोलन के सन्तों ने स्त्रियों को नवजीवन दिया। चक्की चलाते, कपड़े सिलते, बच्चे का पालन करते हुए गाये जाने वाले भजन कीर्तन इन्हीं संतों की देन था। इन सन्तों ने स्त्रियों के भक्ति करने के अधिकार को स्वीकार अवश्य किया किंतु स्त्रियों के प्रति उनकी दृष्टि तत्कालीन नारी सम्बन्धी दृष्टिकोण से पृथक न थी। उन्हें नारी पर विश्वास न था। गृहस्थाश्रम की महत्ता स्वीकार करने पर भी वे स्त्री को मोक्ष में बाधक मानते हैं। एकनाथ अपनी पत्नी से कम वार्तालाप के समर्थक है और गृहस्थ कबीर स्त्रियों को नर्ककूप व नागिन कहने में नहीं हिचकिचाते।¹⁵ वहीं तुलसीदास "ढोल, गंवार, शूद्र, पशु, नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी" जैसा घोष कर देते हैं।¹⁶

अंग्रेजों के भारत आगमन तक भारतीय स्त्रियों की दशा में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हुआ। भारतीय समाज की संयुक्त परिवार प्रथा, जाति व्यवस्था तथा आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय जैसी आर्थिक व सामाजिक संस्थाओं के रहते स्त्री का न तो अपना व्यक्तित्व ही रह गया था और न ही सामाजिक अधिकार ही शेष था।¹⁷ इन सामाजिक संस्थाओं और प्रथाओं के कारण स्त्री का जीवन ही नहीं वरन मानस भी पराधीन हो गया था। बन्धनों का प्रतिकार करने की शक्ति भी क्षीण हो गई थी। संस्थात्मक एवं विचारात्मक पराधीनता से पीड़ित नारी की स्थिति में परिवर्तन लाने के लिये सम्पूर्ण भारतीय समाज की रचना में आमूल चूल परिवर्तन आवश्यक था जिसका आरम्भ ब्रिटिश शासन द्वारा हुआ। ब्रिटिश राजसत्ता के साथ मात्र नई राज्य व्यवस्था ही नहीं आई बल्कि नई आर्थिक रचना और विचारधारा भी आई जिन्होंने भारत की बुनियादी संस्थाओं यथा—परिवार संस्था, विवाह संस्था व ग्राम समुदाय की नींव डगमगा दी। औद्योगीकरण के कारण भारत की आर्थिक व्यवस्था में परिवर्तन हुआ जिससे ग्रामीण समुदाय की आत्मनिर्भरता की स्थिति परिवर्तित होने लगी। गृह उद्योग नष्ट हुए, कृषि व गृह उद्योगों की आपसी एकता व सामंजस्य समाप्त होने लगा और संयुक्त परिवारों का विघटन आरम्भ हुआ। इसके अतिरिक्त भारत की राजनीतिक एकता, यातायात साधनों की व्यवस्था, कानूनी सुधार व नई शिक्षा पद्धति ने भारतीय समाज को गहरा प्रभावित किया।

परिणामतः स्त्रियों की स्थिति सुधारने, उन्हें पराधीन बनाने वाली रुढ़ियों को समाप्त करने तथा स्त्रीपुरुष में समानता लाने के लिये नव शिक्षित वर्ग ने प्रयास आरम्भ किया। 19वीं

शताब्दी में राजा राम मोहन राय, स्वामी दयानन्द, श्रीमती एनी बेसेन्ट, विवेकानन्द, रानाडे, दलपतराम, महर्षि कर्वे, बहराम जी मलबारी, ज्योतिबा फुले, सावित्री बाई फुले व कई अन्य सुधारकों के नाम उल्लेखनीय हैं। सामाजिक सुधार के लिये जीवोत्सर्ग करने वाले प्रतिभाशाली समाज सुधारकों के कार्य के कारण, अंग्रेजी शासन के सम्पर्क से आर्थिक और सामाजिक परिस्थिति में बुनियादी परिवर्तन तथा राष्ट्रीय आन्दोलन द्वारा स्वाभिमान पैदा होने के कारण भारतीय स्त्री अपने अधिकारों के प्रति सजग होने लगी। नई आर्थिक व्यवस्था, राज व्यवस्था व शिक्षा पद्धति ने स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन की पृष्ठभूमि तैयार की। हालांकि अंग्रेज सरकार की भारतीय धार्मिक जीवन में हस्तक्षेप न करने की नीति के कारण सामाजिक प्रश्नों को स्पष्टतया सुलझाने का प्रयास कम किया गया। लेकिन नये शिक्षित व जाग्रत वर्ग के प्रयत्नों से कर्तव्यनिष्ठ स्त्री कार्यकर्ताओं के समूह का भारतीय मंच पर प्रवेश भारतीय इतिहास में अद्वितीय घटना है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम ने स्त्री जीवन को प्रभावित किया। स्त्रियाँ घर की चारदीवारी से बाहर निकली और धीरे-धीरे सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक प्रवृत्तियों में भी सक्रिय भागीदारी करने लगीं। वेदकाल से लेकर 18वीं सदी तक का कोई काल ऐसा नहीं था जब इतनी अधिक संख्या में स्त्रियाँ घर के बाहर निकली हों। भारतीय स्त्री ने स्वाधीनता संग्राम के साथ-साथ समाज में अपना स्थान ऊंचा उठाने के लिये भी विविध सामाजिक संगठनों की स्थापना की। किंतु स्त्री अस्मिता के प्रश्न की गंभीरता व तीव्रता की तुलना में यह संगठन नगण्य थे साथ ही ज्यादा प्रभावी भी सिद्ध नहीं हुए।¹⁸

स्वतंत्र भारत में स्त्रियों की उन्नति को ठोस भूमि पर लाने के गंभीर प्रयासों की आवश्यकता अनुभव की गई। वास्तव में भारतीय स्त्री की परिस्थिति को स्वतन्त्रता पूर्व व स्वतन्त्रता उपरान्त भी प्रभावित करने वाले कुछ कारक रहे हैं जो इस प्रकार से हैं—¹⁹

1. भारत में फैली निर्धनता व आर्थिक विषमता
2. स्वास्थ्य और कुपोषण की समस्या
3. स्त्री अशिक्षा
4. सामाजिक स्तर पर महिलाओं को पुरुषों से निम्न समझना व महिलाओं के विरुद्ध शारीरिक व मानसिक हिंसा

5. कन्या भ्रूण हत्या और बालिका शिशु हत्या
6. दहेज हत्या और बालविवाह
7. वेश्यावृत्ति
8. महिलाओं की पुरुषों पर आर्थिक निर्भरता (वर्तमान में स्त्रियाँ आर्थिक क्रियाकलापों की ओर अग्रसर हो रही हैं किंतु वेतन में भेदभाव, वेतन का नियोजन इत्यादि समस्याएँ हैं।)
9. लैंगिक अनुपात में महिलाओं की घटती संख्या
10. महिलाओं हेतु बने कानूनों की प्रभावहीनता
11. ग्रामीण ढाँचे की विशिष्ट समस्याएँ (ग्रामीण स्त्री आज भी अशिक्षा, अंधविश्वास व गरीबी व्याधि में डूबी है।)

एक स्वस्थ मानवीय समाज की रचना के परम लक्ष्य को दृष्टिगत रखते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा 10 अक्टूबर 1948 को मानवाधिकारों को घोषणा की गई जिसके तीस अनुच्छेदों में विभिन्न मानवाधिकारों का वर्णन किया गया। लैंगिक आधार पर व्याप्त विषमता को दृष्टिगत करते हुए तथा महिलाओं के अधिकारों को अनुभव करने की दृष्टि से CEDAW (Convention on the elimination of all forms of Discrimination Against Women) का प्रस्ताव 18 दिसम्बर 1979 में रखा गया जिसमें भारत की सक्रिय भूमिका रही। इसके अन्तर्गत महिला अधिकारों का हनन मुख्य रूप से निम्न क्षेत्रों में अंकित किया गया—

1. आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक अवसरों में असमानता
2. परिवार में असमानता के साथ-साथ विवाह तथा प्रजनन सम्बन्धी निर्णयों में महिलाओं की उपेक्षा
3. परिवार से समुदाय स्तर तक लिंगभेद आधारित हिंसा महिलाओं को संवैधानिक एवं कानूनी रूप से सशक्त बनाने हेतु स्वतन्त्र भारत के संविधान में भी स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार का प्रावधान किया गया। संविधान निर्माताओं ने अध्याय तीन की नियोजना की, जिसके माध्यम से विभिन्न आधारों पर समाज में व्याप्त विषमता को दूर करने का प्रयास किया गया है। मौलिक अधिकार के अनुच्छेद 15 व 16 तथा नीति निर्देशक तत्वों के अनुच्छेद 38 व 39 के द्वारा स्त्री व पुरुष के मध्य मात्र लैंगिक आधार पर भेदभाव करने का निषेध किया गया है। अनुच्छेद 23, मानव के दुर्व्यवहार, बेगार तथा बलात् श्रम पर रोक लगाता है। अनुच्छेद 42 के अन्तर्गत काम

की न्यायसंगत और मानवोचित दशा तथा प्रसूति सहायता के अधिकार का निर्देश राज्य को दिया गया है। भाग 4 (अ) जो कि मूल कर्तव्यों से सम्बद्ध है, में भी स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि हमारा दायित्व है कि हम अपनी संस्कृति की गौरवशाली परम्परा को समझे और ऐसी प्रथाओं का त्याग करें जो कि स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हों। संविधान में प्रदत्त अधिकारों के अतिरिक्त भारत सरकार द्वारा समय-समय पर महिलाओं के कल्याण एवं विकास के लिये अनेक नीतियों का निर्माण किया गया ताकि महिलाओं को विशेष सुरक्षा एवं संरक्षण दिया जा सके। इनमें से प्रमुख इस प्रकार है—

1. सन् 1971 में केन्द्र सरकार द्वारा देश की महिलाओं की स्थिति पर गठित समिति द्वारा 1974 में Towards social equality नामक एक दस्तावेज बनाया जिसमें भारतीय महिलाओं के स्तर के सम्बन्ध में अनेक मुद्दे उठाये गये। 1988-2000 में केन्द्र द्वारा राष्ट्रीय संदर्भ योजना तैयार की गई जिसमें महिलाओं को राष्ट्र की मुख्य धारा में लाने के लिये बहुउद्देशीय नीति बनाई।
2. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 की संशोधित शिक्षा नीति में महिला शिक्षा को प्राथमिकता दी गई। विद्यालयों में बालिकाओं के प्रवेश पर बल व ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड के तहत भविष्य में अध्यापकों की भर्ती में 50 प्रतिशत स्त्रियाँ होने का प्रावधान किया गया।
3. मानव संसाधन मंत्रालय का महिला और बाल विकास विभाग एक राष्ट्रीय तंत्र के रूप में महिलाओं और बच्चों के लिये कार्यक्रम और नीतियाँ बनाता है तथा इस क्षेत्र में कार्यरत सरकारी और गैर सरकारी संगठनों के कामकाज व गतिविधियों में तालमेल रखता है।
4. 31 जनवरी 1992 को राष्ट्रीय महिला आयोग का गठन किया गया जो महिलाओं के संवैधानिक और कानूनी सुरक्षा के अधिकारों को लागू कराता है। यह आयोग सरकारों को महिलाओं से सम्बन्धित आवश्यक सुझाव देता है।²⁰
5. महिलाओं को सशक्त करने हेतु वर्ष 2001 में प्रथम बार 'राष्ट्रीय महिला उत्थान नीति बनाई गई ताकि उनका विभिन्न क्षेत्रों में विकास किया जा सके।

इस नीति के अन्तर्गत—

- (a) महिलाओं हेतु ऐसा वातावरण तैयार करना जिससे वे अनुभव कर सकें कि वे स्वयं आर्थिक और सामाजिक नीतियाँ बनाने में सम्मिलित हैं।
- (b) देश में महिलाओं की शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार तथा सामाजिक सुरक्षा में सहभागिता सुनिश्चित करना।
- (c) स्त्रियों को मानव अधिकारों का उपयोग करने हेतु सक्षम बनाना व पुरुषों के समान सभी क्षेत्रों में स्वतन्त्रता प्रदान करना।
- (d) महिलाओं के प्रति समाज के व्यवहार में परिवर्तन लाने के लिये महिलाओं और पुरुषों को समाज में बराबर की भागीदारी निभाने को बढ़ावा देना।
- (e) स्त्रियों के प्रति किसी तरह के भेदभाव को दूर करने हेतु समुचित कानूनी प्रणाली और सामुदायिक प्रक्रिया विकसित करना।
- (f) देश के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक जीवन में महिलाओं को बराबर का भागीदार बनाना।

उपरोक्त नीतियों के क्रियान्वयन हेतु सरकार द्वारा समय-समय पर कई विधिक उपाय किये गये जो भारतीय महिलाओं को सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक स्तर पर सशक्त बनाने वाले हैं। राजनीतिक रूप में भी स्त्रियों को सशक्त बनाने हेतु 1993 अप्रैल में संविधान के 73 व 74वें संशोधन द्वारा त्रिस्तरीय पंचायती राज संस्थाओं एवं स्थानीय निकायों के स्तर पर महिला सदस्यों के लिये 1/3 सीटें आरक्षित की गईं ताकि वे देश के राजनीतिक व सामाजिक जीवन में सक्रिय भागीदारी कर सकें। देश की सर्वोच्च व्यवस्थापिका संसद में भी स्त्रियों को आरक्षण प्रदान करने हेतु 1996 से ही प्रयास किया जा रहा है। 2010 में राज्यसभा में प्रस्ताव पारित करा लिया गया किंतु लोकसभा की सहमति के अभाव में अभी भी यह लम्बित है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि आधुनिक युग की भारतीय नारी ने अतीतकालीन नारी से कहीं अधिक अधिकार प्राप्त किये हैं। विडम्बना है कि भारतीय नारी कानून व संविधान की दृष्टि में तो पुरुष के समकक्ष है किंतु दैनिक जीवन के व्यवहार में अनेक ऐसे पहलू हैं जिनमें स्त्री की पराधीनता तथा दुर्दशा दिखाई देती है। आम धारणा है कि स्त्रियों का मुख्य कार्य क्षेत्र गृहस्थी व बच्चों के लालन पालन का है और अपनी पूर्ण क्षमता इसी कार्य में लगानी चाहिए इस प्रकार की रूढ़िगत मान्यताएँ स्त्री के अधिकार को अवरुद्ध करती हैं।

वर्तमान में भारतीय नारी के मानवीय अधिकारों की पूर्ति में मुख्यतः दो बाधाएँ दृष्टिगत होती हैं—²¹

- (1) प्रतिक्रियावादी सामाजिक संस्थाएँ
- (2) रूढ़िगत रिवाज।

मात्र कानूनी दृष्टि से स्त्री व पुरुष समकक्ष है। वास्तव में व्यवहार में जाति, पितृसत्तात्मक परिवार संस्था, धार्मिक परम्पराएं तथा सत्तावादी सामाजिक मूल्यों का प्रभाव अभी भी बहुत व्यापक है और समाज में पुरुष प्रभुत्व दिखाई देता है। यही प्रचार किया जाता है कि स्त्री का प्रमुख कार्य संतानोत्पत्ति तथा पतिसेवा ही है। प्रयाग महिला विद्यापीठ के उपाधि वितरण समारोह में डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था कि स्त्री की सम्पूर्ण स्वाधीनता का अर्थ यही हो सकता है कि वह नए नागरिक के शारीरिक, नैतिक तथा मानसिक चरित्र निर्माण का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले। इस कार्य को सम्पन्न करने में जो भी बाधाएँ सामने आयेँ उन्हें दूर करके यह कार्य सुचारु रूप से सम्पन्न हो सकेँ उसके लिये अवसर प्रदान करें। इस प्रकार स्त्री को विकास के अवसर प्रदान करने की बात कही गई किंतु एक परिधि के अन्तर्गत। यही अवधारणा भारतीय समाज में आज भी विद्यमान है।

वैश्वीकरण के इस नये दौर में नई परिस्थितियों ने जन्म लिया है। भूतकाल में नारी के समक्ष गृहस्थी की देखभाल व बालकों की देख रेख के अतिरिक्त दूसरा कोई न आदर्श था न लक्ष्य, न ही उसे जीवन में किसी अन्य प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाता था और वैकल्पिक जीवन की दूर-दूर तक कोई सम्भावना भी नहीं थी; किंतु वर्तमान के उदारीकरण के युग में जहां उपभोक्तावाद व बाजारवाद का बोलबाला है, स्त्री के लिये घर के बाहर निकल आर्थिक अर्जन करना अनिवार्य हो गया है। इस से स्त्री पर घर व बाहर दोनों प्रकार के श्रम का बोझ आ जाता है जो शारीरिक व मानसिक थकान का कारण बनता है। बढ़ते भौतिकतावाद के कारण विवाहों में बढ़ता खर्च, दहेज की मांग, बलात्कार, सम्पत्ति में अधिकार के विवाद बढ़ते जा रहे हैं, जिनसे कन्या भ्रूण हत्या व बालिका शिशु हत्या जैसे अपराध होते हैं। सरकार द्वारा बनाये जा रहे कानूनों का उचित तरीके से क्रियान्वयन न हो पाने से समस्या का समाधान सम्भव नहीं हो पाता। भारतीय स्त्री की स्थिति के आदर्श और यथार्थ

में कोई अंतर न हो इसके लिये निम्नांकित बिन्दुओं पर ध्यान दिया जाना चाहिए—²²

1. मानव सम्बन्धों में विविधता के साथ-साथ जटिलता भी बढ़ती जाती है। तब इन सम्बन्धों को नियन्त्रित करने में रिवाज या रूढ़ि अथवा मौखिक व लिखित कानून अपर्याप्त सिद्ध होते जाते हैं। अतः हमें समयान्तरालों पर स्थापित कानूनों की व्याख्या व समालोचना करते रहना चाहिए।
2. कानून बनाते समय कानूनविदों के समक्ष सांस्कृतिक-सामाजिक मूल्य एवं धार्मिक दृष्टिकोण रहता है जबकि भारत जैसे सांस्कृतिक सामाजिक धार्मिक वैविध्यपूर्ण देश में सभी नागरिकों पर लागू हो सकने वाली एकल मानवीय संहिता की आवश्यकता है।
3. हमारे देश में बालविवाह, विवाह विच्छेद, सम्पत्ति उत्तराधिकार, श्रमिक महिला व कामकाजी महिला हेतु प्रसूति सुविधाएं आदि अनेकों कानून बनाये गये हैं। किंतु कार्यक्षेत्र में उचित वातावरण व बच्चों की माताओं हेतु बने कानूनों के उचित कार्यान्वयन को देखने की आवश्यकता है। घर के बाहर काम करने वाली ही नहीं अपितु घर में ही अपनी क्षमता एवं श्रम का योगदान देने वाली महिला हेतु कानून मौन है।
4. कानूनों के क्रियान्वयन में होने वाली लापरवाही भी कानूनों को प्रभावहीन बना देती है। उदाहरणार्थ बाल विवाह कानून को निर्मित होने के कई वर्षों बाद भी प्रत्येक अक्षय तृतीया को बड़ी संख्या में बाल विवाह होते देखे जा सकते हैं।
5. सामाजिक कानूनों को प्रभावपूर्ण तरीके से कार्यान्वित करने में प्रशासन की लालफीताशाही भी एक बड़ी बाधा है। इसके चलते कोई भी नागरिक कानून भंग की घटना की जानकारी प्रशासन तक नहीं पहुंचाना चाहता। दूसरे, पर्याप्त सबूतों के अभाव में पुलिस, सुदूर क्षेत्रों में हो रही घटनाओं की जानकारी अधिकारियों तक नहीं पहुंचा पाती। यदि किन्हीं जागरूक नागरिकों या अधिकारियों द्वारा ऐसी घटनाओं को न्यायालय तक लाया भी जाता है तो लम्बी न्याय प्रक्रिया के चलते सबूत व गवाह दोनों परिवर्तित हो जाते हैं।
6. जनता द्वारा भी कुछ कानूनों के प्रति असहयोग किया जाता है, जैसे पुत्रियों को सम्पत्ति में बराबर का हिस्सा देना या विधवा विवाह को मान्यता देना। समाज में

प्रचलित रूढ़िगत मान्यताओं के हावी होने के कारण जनता का इनके प्रति पूर्वाग्रह रहता है और यदि किसी स्त्री के द्वारा समाज विरुद्ध जाकर इस प्रकार का कृत्य कर लिया जाये तो उसे आलोचना का शिकार बनना होता है।

उपरोक्त विवेचन का अर्थ यह कदापि नहीं है कि आधुनिक युग में स्त्री पक्ष में बने कानून व्यर्थ है, अपितु इन सामाजिक कानूनों ने भारतीय स्त्री के स्थान को ऊँचा उठाने में विशेष योगदान दिया है। सदियों से विवाह अथवा उत्तराधिकार के बारे में प्रामाणिक आधार धर्मग्रंथों, रुढ़ियों व मान्यताओं को माना जाता था, अब उनका स्थान लोकसभा द्वारा पारित कानूनों ने ले लिया है जो बहुत ही महत्वपूर्ण है। कानून की उपयोगिता उसके पालन के लिये सर्तकता में ही निहित है। सामन्तशाही और पूर्वसामन्तशाही समाज में स्त्री का दर्जा निम्न था व मूल्यों और नैतिकता के दोहरे मापदण्ड थे, स्वतन्त्रता पश्चात् हमारे संविधान में समानता के सिद्धान्त के समावेश से उसकी समाप्ति हुई। किंतु स्त्री अधिकारों हेतु यहीं विराम नहीं है। भारतीय स्त्री को अभी भी अपनी प्रगति पथ पर आने वाली बाधाओं को दूर करना है—

1. स्त्री को, संविधान द्वारा जो समानता का अधिकार दिया गया है, उसे कार्य रूप में परिणत करने में जो कठिनाइयाँ आएँ उसे सहर्ष स्वीकार करना चाहिए।
2. स्त्री को शिक्षित व जागरूक होना होगा। सतत सर्तकता ही स्वतन्त्रता को कायम रखती है। यदि व्यक्ति स्वयं अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं होगा तो उनका उपभोग नहीं कर सकता। अतएव स्त्री शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है।
3. भारतीय स्त्री को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनना होगा। आर्थिक पराधीनता उसे दो प्रकार से प्रभावित करती है—(अ) सामाजिक व सांस्कृतिक दृष्टि से उसे महत्वहीन स्थान प्राप्त होता है। (ब) तीव्र प्रतिद्वंद्विता के कारण कम वेतन व प्रतिकूल कार्य क्षेत्र से जूझने की स्थितियाँ मिलती हैं।
4. सामाजिक स्तर पर स्त्री को अभी अनेक यातनाएँ खुले आम व बन्द घरों में सहन करनी पड़ रही हैं जिनके निवारण हेतु कानून बनाये गये हैं किंतु ये कानून समस्या के समाधान में सक्षम नहीं हैं। 1983 का 498A का

दहेज प्रताड़ना कानून, 2005-06 में घरेलू हिंसा से रक्षा का कानून, 2013 में कार्यक्षेत्र में यौन शोषण के विरुद्ध कानून बने रहने के बावजूद इस तरह के मामले घर व कार्यक्षेत्र में होते रहते हैं।

5. विडम्बना है कि आम भारतीय स्त्री अपने समानता के अधिकारों की दुहाई देती है किंतु जब पुत्री की माँ बनती है तो दुःखी होती है। कन्या भ्रूण हत्या के पीछे 50% उत्तरदायी स्त्रियों की पुत्र मोह सम्बन्धी धारणा ही है। स्त्रियों को स्वयं स्त्री जाति के प्रति सम्मान का भाव रखना आवश्यक है।
6. भारत में स्त्री मुक्ति सम्बन्धी कई संगठन अस्तित्व में हैं किन्तु अधिकांशतः वे मात्र प्रस्ताव पास करके, भाषणबाजी, धरना, निंदा प्रस्ताव करके रह जाते हैं। उन्हें चाहिए कि वे स्त्रियों के सामाजिक व आर्थिक स्तर पर उत्थान का प्रयास करें। मात्र उच्चवर्ग व मध्यमवर्ग की स्त्रियों की संस्था ही न बनें वरन् निम्नवर्ग और ग्रामीण क्षेत्र की महिलाओं की उलझनों पर भी ध्यान दें।
7. बदलते वैश्विक स्वरूप में भारतीय स्त्री को स्थानीय स्तर पर सामूहिक संगठनात्मक ढाँचे को विकसित करके तकनीकी व आर्थिक प्रगति को निश्चित करना होगा। इस हेतु वे पशु पालन एवं दुग्ध उत्पादन, शिक्षा प्रसारण, हस्तकरघा उद्योग जैसे उद्योग स्थापित कर सकती हैं— 'अमूल' इसी प्रकार का एक उदाहरण है। साथ ही वे अपने परम्परागत घरेलू कार्यों को व्यावसायिक स्वरूप दे सकती हैं—यथा अनाज उत्पादन, उसकी सफाई, वितरण, मसाला उत्पादन, जूट की वस्तुओं आदि का निर्माण, अनुपयोगी सामग्री का सदुपयोग, पेड़ पौधों से औषधि निर्माण इत्यादि कार्य।
8. भारतीय स्त्री को अपने अधिकारों को जानना जितना आवश्यक है उतना ही उनका सदुपयोग भी आवश्यक है। भौतिकवाद की दौड़ में अलग होकर भारतीय स्त्री को मानसिक व नैतिक विकास के मानदण्डों पर स्वयं की क्षमता तथा कार्यशीलता से स्थापित होना होगा। कल्पना चावला, सुनीता विलियम्स, किरण बेदी, किरण देसाई, सरोजनी नायडू, विजयलक्ष्मी पंडित, इंदिरा गांधी, सुषमा स्वराज, रानी लक्ष्मी बाई, मदन टेरसा, महादेवी

वर्मा आदि अनेकों नाम विभिन्न क्षेत्रों में स्त्री क्षमता के परिचायक हैं।

निष्कर्ष

विगत तीन चार दशकों से नारी की स्थिति में, विशेषतः मानसिक सबलता की दृष्टि से बहुत अंतर आया है किंतु हमें यह मानना होगा कि बहुधा शारीरिक दृष्टि से कमजोर होने के कारण महिलाएँ अपने अधिकारों का पूर्णतः उपयोग करने में असमर्थ रहती हैं। अतएव आवश्यक है कि अपने अधिकारों का उचित व पूर्ण उपयोग करने हेतु स्त्रियों को योग, मार्शल आर्ट, जूडो-कराटे जैसी विधाओं को ग्रहण करने हेतु प्रेरित किया जाये। विद्यालयों में छात्राओं को इनका अनिवार्य प्रशिक्षण दिया जाये जिससे वे मानसिक के साथ-साथ शारीरिक रूप से भी सशक्त हो सके, साथ ही वे अपने अधिकारों की आदर्शात्मक स्थिति को यथार्थ में प्राप्त कर सकें।

सन्दर्भ सूची

1. अथर्ववेद, 14.14
2. अथर्ववेद, 11.5.18, ऋग्वेद 10.27.12
3. शतपथ ब्राह्मण 5.2.1.10, मनुस्मृति 9.45
4. ऋग्वेद 3.31.1
5. यजुर्वेद 17.45
6. यजुर्वेद 10.26
7. ऋग्वेद 10.101.11
8. पंचतंत्र 1.222
9. अल्तेकर, ए.एस., पोजिशन आफ वीमेन इन हिन्दू सिविलाइजेशन, पृ. 203 मोतीलाल बनारसीदास, 2016, 12वां संस्करण
10. महाभारत, 12.76.01
11. चुल्लवग्ग, 10.1.6
12. मिश्र, जयशंकर, प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, बिहारी हिन्दी ग्रंथ अकादमी, 1980, पृ.सं. 416
13. काणे, पी.वी. धर्मशास्त्रों का इतिहास, जिल्द 11, खण्ड-1, पृ.सं. 445
14. पद्म पुराण, पृ.सं. 41-45
15. "नागिन के तो दोये फन, नारी के फन बीस जाका डसा ना फिर जीये, मरि है बिसबा बीस"
16. तुलसीदास, रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड, 48.6
17. देसाई नीरा व उषा ठक्कर, भारतीय समाज में महिलाएँ, नेशनल बुक ट्रस्ट, प्रथम संस्करण 2011, पृ.सं. 12-19
18. गेराल्डीन फोर्ब्स, वुमन इन माडर्न इंडिया, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 2004 पृ.सं. 26-28
19. गुप्ता, डा. बी.के., प्रतियोगिता दर्पण दिस. 2005, पृ.सं. 890
20. अंसारी, एम.ए., राष्ट्रीय महिला आयोग और भारतीय नारी, पंचशील प्रकाशन
21. देसाई, नीरा, भारतीय समाज में महिलाये, नेशनल बुक ट्रस्ट, प्रथम सं. 2011
22. कौशिक, आशा, मानवाधिकार और राज्य बदलते संदर्भ : उभरते आयाम, पोइन्टर पब्लिशर्स, जयपुर, 2004